बहुभाषिता, साक्षरता, भाषा–शिक्षण एवं बौद्धिक विकास

रमा कान्त अग्निहोत्री

हमारा देश किस मायने में बहुभाषी है, यह समझना ज़रूरी है। ख़ासकर उन लोगों के लिए जो साक्षरता, शिक्षा, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक बदलाव के साथ जुड़े हैं। कुछ लोग तो केवल यही समझते हैं कि भारत बहुभाषी है क्योंकि उसके संविधान की आठवीं सूची में 18 भाषाएं अनुसूचित हैं। हमारा देश केवल अपने संविधान की ही दृष्टि से बहुभाषी नहीं, यह अलग बात है कि उसका संविधान कई भाषाई आयामों की दृष्टि से अनूठा है। जब संविधान लागू हुआ तो केवल 14 भाषाएं थीं, आठवीं सूची में 1967 में सिंधी जोड़ दी गई व 1992 में कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली। स्पष्ट है कि भारतीय गणतंत्र में इतनी जगह है कि जब भी कोई समुदाय चाहे तो उपयुक्त राजनीतिक एवं प्रशासनिक तरीक़ों से आठवीं सूची में अपनी भाषा का नाम जुड़वा सकता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इसके लिए कोई आवश्यक नहीं कि उस भाषा की अपनी विशेष लिपि हो या कोई प्राचीन लंबा–चौड़ा साहित्य हो। एक बात और महत्त्वपूर्ण है संविधान की दृष्टि से। भारतीय संविधान बनाने वालों ने राष्ट्रभाषा का सवाल नहीं उठाया। इस बात से देश को मुक्त रखा कि राष्ट्र, राष्ट्रीयता व राष्ट्रभाषा में कोई अनिवार्य समीकरण है– ऐसे समीकरण जो लगभग सभी अन्य देशों में अनिवार्य माने जाते हैं। बहुत अधिक हुआ तो राज्य की दो, राष्ट्रीय भाषाएं मान ली। भारत में हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया, हिन्दी के प्रचार, विस्तार व मानकीकरण के लिए प्रावधान रखे व अंग्रेज़ी को सह–राजभाषा का दर्जा दिया और अहिंदीभाषी भारतीयों को यह आश्वासन कि जब तक वे नहीं चाहेंगे, अंग्रेज़ी को इस देश से हटाया नहीं जाएगा। इन सब बातों के बावजूद, संवैधानिक बहुभाषिता भारत के बहुभाषी होने का केवल एक आयाम है जो उसकी बहुभाषिता की रक्षा तो करता है उसके मर्म को नहीं समझता। यह संविधान का काम भी नहीं है शायद।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि भारत में केवल 18–20 नहीं अपितु 1632 भाषाएं हैं, क्योंकि ऐसी गिनती जनगणना दफ़्तर ने की है। इसलिए भारत बहुभाषी है। राजनीतिक या अन्य कारणों की वजह से गिनती करते वक़्त कई छोटे–मोटे समुदायों की भाषाएं, जो एक दूसरे से काफ़ी मेल खाती थीं, अलग–अलग गिना गया; और दूसरी तरफ़ भोजपुरी, अवधी, मैथिली, बुंदेली आदि जैसी मुख्य भाषाओं को हिन्दी भाषा के अन्तर्गत गिन लिया गया। उत्तर भारत मुख्यतः हिन्दीभाषी है, ऐसी मान्यता बनाने के लिए आख़िर कोई आधार तो बनाना ही था। स्पष्ट है कि बहुभाषिता का एक आयाम यह भी है कि आप भाषा किसे कहते हैं। भाषा व बोली में अंतर करते हैं या नहीं। समाज भाषा किसे मानता है? भाषा वैज्ञानिक, भाषा किसे मानते हैं? क्या भाषा के बारे में समाज से हटकर कुछ भी सोचा जा सकता है? भाषा वैज्ञानिक होने के नाते मैं समाज से कितना भी कहूं कि अवधी अपने आप में एक भाषा है व हिन्दी की मां जैसी है, समाज यही कहेगा कि अवधी हिन्दी की एक बोली है। भाषाविदों ने तो कह दिया कि एक शब्दकोश व कुछ संरचनात्मक नियमों की नियमबद्ध व्यवस्था भाषा है। अब इस परिभाषा में न तो समुदाय के लिए कोई स्थान है, न जनगणना की राजनीति के लिए और न ही मानकीकरण के सामाजिक परिणामों के लिए।

कुछ लोग भारत को बहुभाषी इसलिए मानते हैं क्योंकि हमारे यहां अख़बार, फ़िल्में, किताबें, टी.वी., रेडियो, शिक्षा, दफ्तर, कचहरी आदि का कामकाज कई भाषाओं में एक साथ होता है। कोठारी कमीशन से लेकर आज तक त्रिभाषा सूत्र भारतीय शिक्षा का आधार–सा बना हुआ है। यह बात

अलग है कि कुछ अनुसूचित जातियों के लिए इसका अर्थ रहा है, चार या पांच भाषाएं व कुछ समृद्ध उत्तर–भारतीयों के लिए केवल एक या दो।

असल में भारतीय बहुभाषिता के कई आयाम हैं और यह कोई हैरानी की बात नहीं कि पश्चिमी एक भाषी देशों को यह सब एक सिरदर्दी–सा लगता है, अधिकतर पिछड़ेपन से जुड़ा हुआ। अभी तक जितने पहलुओं की हमने चर्चा की है उन सभी में भारतीय बहुभाषिता का कोई–न–कोई अंश अवश्य निहित है लेकिन सबको मिलाकर भारत की बहुभाषिता परिभाषित नहीं की जा सकती और उसको समझे बिना, उसके प्रति संवेदनशील हुए बिना, किसी भी साक्षरता, शिक्षा या सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम को कैसे सफल बनाया जा सकता है?

सबसे मुख्य बात तो यह है कि बहुभाषी होना व्यक्तिगत या सामाजिक स्तर पर भारत के लिए कोई सिरदर्दी का विषय नहीं रहा कभी भी। कई भाषाओं को अपने–आप में समेट लेना व अन्य देश–विदेश की भाषाओं से स्वतंत्रतापूर्वक आदान–प्रदान करना, भारतीय व्यक्ति व समाज के लिए एक सामान्य बात है। यहां यह कोई अचरज की बात नहीं कि बेटा मां–बाप से तो भोजपुरी में बात करता है, पुराने दोस्तों से भोजपुरी व हिन्दी में कॉलेज के दोस्तों से हिन्दी या अंग्रेज़ी में व अपने व्यवसाय का सारा काम केवल अंग्रेज़ी में करता है। यही नहीं कई परिस्थितियों में तो ऐसा भी होता है कि दो या अधिक भाषाएं मिल–जुल जाती हैं ऐसी प्रक्रिया से भाषाएं समृद्ध होती हैं न कि खिचड़ी बनती हैं। एक भाषी मापदंडों से बहुभाषी क्षमता को नापा नहीं जा सकता। भाषाएं मरती नहीं हमारे यहां अक्सर बदलती रहती हैं। कोई भी समुदाय अपनी भाषाई पहचान को आसानी से नहीं छोड़ता। आज भी लोग बहस करते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का माध्यम अंग्रेज़ी थी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू या लोगों की स्थानीय भाषाएं किसी–न–किसी स्तर पर मानना पड़ेगा कि सभी थीं। जब तक कोई विशेष राजनैतिक या धार्मिक प्रश्न सामने नहीं आता, हम एक भाषा, एक भौगोलिक परिधि, एक समुदाय, एक धर्म आदि के चक्रव्यूह से दूर ही रहते हैं।

पर ऐसा तो नहीं है कि भाषा, सामाजिक सत्ता व राजनीति में कोई संबंध नहीं। न जाने कितने वर्षों से संघ लोक सेवा आयोग के बाहर कई लोग इसलिए धरना दिए बैठे हैं क्योंकि उनके मतानुसार अंग्रेज़ी का ज्ञान भारतीय शासकीय तंत्र में कोई पद प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं होना चाहिए। वे नहीं मानते कि केवल अंग्रेजी ही ज्ञान की भाषा है हमारे लिए या अंग्रेज़ी के बिना भारत का वैज्ञानिक व तकनीकी विकास संभव ही नहीं। या कि हम और अधिक पिछड़ जाएंगे, हमारे विचार फिर से दकियानूसी हो जाएंगे, वो जो विश्व के साथ जुड़े रहने का एक झरोखा है, हमारे पास वह बन्द हो जाएगा। उनका कहना है कि यदि फ्रांस अपना काम फ्रेंच में व जर्मनी अपना काम जर्मन में कर सकता है तो भारत अपना काम भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं कर सकता। ऐसा क्यों है कि अंग्रेज़ी ही सामाजिक सत्ता पाने का एकमात्र तरीक़ा है? ऐसा क्यों है कि हर महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में वैज्ञानिक या तकनीकी, शैक्षिक या व्यापारी, शासकीय या न्यायिक, चिकित्साशास्त्रीय या औद्योगिक– सभी जगह अंग्रेजी वालों का बोलबाला है? ऐसा क्यों है कि त्रिभाषीय कार्यक्रम हिन्दीभाषी क्षेत्रों में अधिकतर द्विभाषी होकर रह गया? भाषा और राजनीति में गहरे संबंध से आप कहां तक भागेंगे? हाल ही के कुछ ऐतिहासिक मुद्दों में भाषा का प्रयोग किस प्रकार हुआ है, इस पर एक नज़र डालें। बाबरी मस्जिद के सिलसिले में संघ परिवार से जुड़ा एक पूरा मिनी शब्दकोश आग की तरह सारे भारत में फैल गया और जब तक मस्जिद गिरी नहीं, उस शब्दकोशीय भाग को बराबर हवा दी जाती रही। अब नई आर्थिक नीति को लेकर एक बहुत ही मोहक शब्दकोश लोगों तक इस ख़ूबसूरती से पहुंचाया जा रहा है कि लोग उसे लगभग अपना ही मानने लग गए हैं। भाषा के राजनैतिक आयामों की वास्तविकता अब कुछ साफ होने लगी है। कुछ झारखंड में, कुछ सिंधी, कोंकणी, नेपाली व मणिपुरी के संविधान की आठवीं सूची में आने से, कुछ उन लोगों के प्रयासों की विफलता से जो साक्षरता से जुड़े हैं और कुछ उन लोगों की घोर निराशा से जो दूर–सुदूर गांवों में जाकर एक तरफ़ तो गांववालों की

भाषाओं को बदलना ही नहीं अपितु समृद्ध करना चाहते हैं और साथ ही उन्हें सामाजिक तरक़्क़ी हेतु मानकीकृत भाषाएं पढ़ाने पर भी अपने आप को मजबूर पाते हैं। बहुभाषिता के इस तरह कई आयाम हैं। एक अपार स्रोत है हमारे शक्ति का। लेकिन यदि हम बहुभाषिता के बारे में और अधिक संवेदनशील होकर कुछ गहराई से नहीं सोचेंगे तो हम इस प्राचीन सदियों से चली आ रही, हमारे दर–दर में बसी संपत्ति का कुछ क्रियात्मक प्रयोग नहीं कर पाएंगे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे अधिकतर भाषावैज्ञानिक अपने शोध कार्य को संरचनात्मक सीमाओं में ही रखते हैं। उसे ही विज्ञान समझते हैं! और अधिकतर जो बातें संरचना की दृष्टि से पश्चिमी भाषाओं में दिखाई जा चुकी हैं उन्हें अपनी भाषाओं में निरन्तर ढूंढ़ने का प्रयास करते रहते हैं। शायद वह समय आ गया है कि यदि भाषाविज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है तो भाषाविद् अपने आप से कुछ सामाजिक सवाल पूछें व अपने शोध कार्य को उन सवालों से जोड़ें।

साक्षरता

साक्षरता कार्यक्रमों में शिक्षाकर्मी अक्सर ये मानकर चलते हैं कि जो पढ़ा–लिखा नहीं है वह अज्ञानी है और अज्ञान का यही अंधेरा उसकी गरीबी व दुःखों का एकमात्र या मुख्य कारण है। वे लोग यह भी मानकर चलते हैं कि साक्षरता से, यानी लिखना–पढ़ना सीखने से या कुछ गिनती व पहाड़े याद करने से उसका अज्ञान दूर हो जाएगा और उसके साथ–साथ ग़रीबी भी। ऐसी अवधारणाएं कितनी गलत, बेबुनियाद व ख़तरनाक हो सकती हैं, यह समझाने में एक भाषावैज्ञानिक काफी मदद कर सकता है। वह शायद यह भी समझा सकता है कि इस प्रकार की अवधारणाएं मासूमियत की निशानी नहीं, पर उनके पीछे एक पूरा राजनीतिक एजेण्डा छुपा रहता है। पहली बात तो यह कि जिसे पढ़ना–लिखना नहीं आता वह अज्ञानी नहीं है। वह पूरी तरह से अपनी भाषा या भाषाएं समझ व बोल सकता है। उनमें कहानी व कविता कह सकता है। विवरण व इतिहास सुना सकता है। अपनी भाषा के साथ नए–नए प्रयोग कर सकता है। अपनी भाषा का प्रयोग कर सकता है, शोषण के लिए, अपनी पहचान के लिए या फिर अपने अस्तित्व के लिए, लड़ने के लिए। साक्षरता में जुटे शिक्षाकर्मी के लिए यह समझना आवश्यक है कि उनके विद्यार्थी उसके सामने ज्ञान व भाषाओं की एक संपत्ति लिए बैठे हैं। ऐसी संपत्ति जिसका सदुपयोग करने से साक्षरता सार्थक हो सकती है। उदाहरण के लिए साक्षरता कार्यक्रम में हम सीखने सिखाने की बातों को भाषाओं से ही क्यों न शुरू करें? यदि वे अपनी भाषा लिखना सीख जाएंगे तो मानकीकृत भाषा स्वतः ही सीख जाएंगे। अपनी भाषाएं लिखने की प्रक्रिया में उनके सामने अपनी भाषाओं की समानताएं व अन्तर स्वाभाविक रूप से सामने आएंगे। इन सब बातों को वे आसानी से अपने पर्यावरण से जोड़ पाएंगे। भाषागत विश्लेषण से बौद्धिक क्षमता व सवाल उठाने की ताकत का सार्थक विकास संभव है।

भाषा–शिक्षण

बहुभाषिता केवल साक्षरता में ही नहीं अपितु भाषा–शिक्षण में भी बहुत मददगार हो सकती है। वास्तव में, हमारे लिए तो अनिवार्य है कि हम ऐसे तरीके निकालें जिनका आधार बहुभाषिता ही हो। दुर्भाग्यवश हम निरन्तर एकभाषी प्रदेशों में बनाए गए तरीकों व सामग्री का उपयोग अपने देश में करते रहे हैं। जब व्याकरण व अनुवाद पर आधारित तरीक़ों की हवा चली तो हमने अंग्रेज़ी ही नहीं संस्कृत व उर्दू भी उसी तरीक़े से पढ़ाई। फिर व्यवहारवाद का जमाना आया और हम सब बन्दलोव के कुर्ते से हो गए– अधिक अभ्यास, अधिक ज्ञान। एक ही चीज़ को बार–बार याद करो तो वह आदत सी बन जाएगी। व्याकरण व अनुवाद की छुट्टी। आजकल संप्रेषण आधारित तरीक़ों (कम्यूनिकेटिव एप्रोचेज) की बात होती है। फंक्शनलिज्म का जमाना है। काम होना चाहिए। परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त भाषा बोलनी व लिखनी आनी चाहिए। मुझे कभी यह समझ में नहीं आया कि एकभाषी समाज में स्थापित मानदंडों से आप बहुभाषी समाज की क्षमताओं को कैसे नाप सकते हैं? अक्सर आपने सुना होगा कि भारत में अंग्रेज़ी के स्तर बहुत तेज़ी से गिर रहे हैं और कई भारतीय अंग्रेजी वाक्यों व अभिव्यक्तियों को लेकर भारतीयों का काफ़ी मज़ाक़ उड़ाया जाता है। लेकिन क्या कोई एकभाषी अंग्रेज़ी बोलनेवाला भोजपुरी,

हिन्दी या तमिल जैसी अन्य भाषाएं भी बोलता है? जो बात साक्षरता के संदर्भ में कही है वही मुझे भाषा शिक्षण के संदर्भ में भी कहनी है। एक कक्षा है आपके सामने जो एकभाषी नहीं है। अलग–अलग भाषाएं बोलनेवाले कई बच्चे हैं, उस कक्षा में इस बात को नकारने की बजाय या एक समस्या समझने की बजाय इसका अत्यधिक क्रियात्मक उपयोग कक्षा में ही हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए आपकी कक्षा में तीन–चार अलग–अलग भाषाएं बोलनेवाले बच्चे हैं। यह कोई अनूठी बात नहीं। दिल्ली के किसी भी स्कूल में हिन्दी, भोजपुरी, बंगाली व तमिल बोलनेवाले बच्चे एक ही कक्षा में हो सकते हैं। गांवों या छोटे–मोटे शहरों में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती है। होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) के किसी भी मिडिल या हाईस्कूल की कक्षा में अक्सर बुन्देली, मराठी, हिन्दी व गोंडी बोलनेवाले बच्चे साथ–साथ पढ़ते हैं। एक गतिविधि पर ग़ौर कीजिए। आठवीं कक्षा मानकर चलिए। अध्यापक बच्चों से पूछकर हिन्दी के कुछ शब्द बोर्ड पर लिख देता है। फिर उन्हीं से उनके बहुवचन पूछकर लिख देता है। अध्यापक का काम लगभग ख़त्म। अब तमिल बच्चा उठाकर उन्हीं शब्दों के एकवचन या बहुवचन सभी बच्चों को सिखाता व लिखवाता है। देवनागरी लिपि में तमिल लिखी जा सकती है। कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। अध्यापक भी इस प्रक्रिया में कुछ तमिल शब्द सीख रहा है, बच्चों के साथ बैठा। इसके बाद इसी तरह बंगाली बच्चे की बारी आती है। काफ़ी मसाला हो गया दो दिन के लिए। बच्चे तीनों भाषाओं के एकवचन–बहुवचन बनाने के लिए नियम निकालते हैं व सारी कक्षा को समझाते हैं। अध्यापक को भी।

आपका यह पूछना अनुचित न होगा कि इसमें पढ़ाई क्या हुई? सच पूछिए तो काफ़ी पढ़ाई ही नहीं अपितु और भी बहुत कुछ हुआ। बच्चों व अध्यापक के बीच का फासला कुछ कम हुआ। दूसरे, बच्चों को यह अहसास हुआ कि उनकी भाषा का भी स्कूली पाठ्यक्रम में कोई स्थान है। जब बच्चे और अध्यापक मिलकर यह समझते हैं कि बुन्देली भी उतनी ही नियमबद्ध व व्याकरणयुक्त है जितनी हिन्दी तो बुन्देली बोली के लिए उनके दिल में जो एक अनादर की भावना बनी हुई थी, दूर होने लगती है। चौथे, भाषाई संरचना के प्रति बच्चे जागरूक होते हैं– भिन्न–भिन्न भाषाओं की समरूपता व अन्तरों को पहचानने लगते हैं। वास्तव में यही व्याकरण है। पांचवां, जो कि शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वे एक ऐसी प्रक्रिया से गुजरते हैं जिसे सामान्य रूप से वैज्ञानिक माना गया है।

बौद्धिक विकास

विज्ञान व वैज्ञानिक तरीक़े की क्या परिभाषा हो? इस पर काफ़ी वाद–विवाद है। लेकिन शायद इस बात पर कोई विशेष असहमति न हो कि सामग्री या आंकड़े एकत्रित करना, उनका समरूपता या किसी अंतर के आधार पर अलग–अलग वर्गीकरण करना व उस वर्गीकरण के आधार पर कुछ नियम बनाना और फिर उन नियमों को और अधिक सामग्री पर जांचना वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है और जब बच्चे बार–बार इस प्रक्रिया से गुज़रते हैं तो स्वाभाविक रूप से उनका बौद्धिक विकास होता है।

पहले ऐसा माना जाता था कि बहुभाषिता व बौद्धिक स्तर में एक विपरीतात्मक रिश्ता है– जैसे–जैसे बहुभाषिता बढ़ती है, बौद्धिक स्तर घटता है। इस तरह की मान्यताएं व शोध कार्यक्रम जरूरी भी थे। एकभाषी उपनिवेशवादियों के लिए, जो बहुभाषी देशों पर राज करना चाहते थे। लेकिन आज पूरी तरह से सिद्ध हो चुका है कि बहुभाषिता व बौद्धिक स्तर में सीधा रिश्ता है– जैसे–जैसे बहुभाषिता बढ़ेगी बौद्धिक स्तर भी ऊंचा होगा।

हमारे पास तो पहले ही भंडार है बहुभाषिता का। हम क्यों न प्रयास करें ऐसी पाठन सामग्री बनाने का, पढ़ाने के ऐसे तरीक़े निकालने का व मूल्यांकन के ऐसे मापदण्ड बनाने का जिनका आधार बहुभाषिता हो। यह कोई कठिन कार्य नहीं है। केवल हमें अन्धे होकर एकभाषीय संदर्भ में उपजे तौर–तरीक़ों के अनुकरण को बन्द करना होगा।

रमा कांत अग्निहोत्री – दिल्ली विश्वविद्याल में भाषा शिक्षण करते हैं। भाषा और शिक्षा के मसलों पर निरंतर शोध एवं लेखन करते हैं।